

कुमार अम्बुज की पांच कविताएं

पिताओं के बारे में कुछ छूटी हुई पंक्तियां

एक दिन लगभग सभी पुरुष पिता हो जाते हैं

जो नहीं होते वे भी उम्रदराज होकर बच्चों से, युवकों से
इस तरह पेश आने लगते हैं जैसे वे उनके पिता हों

पिताओं की सख्त आवाज कई जगहों पर
कई लोगों के सामने गिड़गिड़ाती पायी जाती है

एक रात वे सूचना देते हैं— 'बीमा करा लिया है'

वे जमाने भर से क्रोध में एक अधूरा वाक्य लगातार बोलते हैं—
'यदि बाल बच्चे न होते तो मैं तुम्हें...'

कभी कभी वे पिता होने से थक जाते हैं और चुपचाप लेटे रहते हैं

पिताओं का प्रेम तुलाओं पर मांओं के प्रेम से कम पड़ जाता है
और अदृश्य बना रहता है या फिर टिमटिमाता है अंधेरी रातों में

धीरे धीरे उन्हें जीवन के सारे मुहावरे याद हो जाते हैं
और विपत्तियों को भी वे कथाओं की तरह सुनाते हैं

अक्सर वे बच्चों को प्यार करना चाहते हैं
लेकिन वे बच्चों को डांटने लगते हैं

कभी कभी वे नाकुछ बात पर ठहाका लगाते हैं
हम देखते हैं उनके दांत पीले पड़ने लगे हैं

धीरे धीरे झुर्रियां उन्हें घेर लेती हैं
वे अपनी ही खंदकों, अपने ही बीहड़ों में छिपना चाहते हैं

यकायक वे किसी कंदरा में, किसी तंद्रा में चले जाते हैं
और किसी को भी पहचानने से इन्कार कर देते हैं।

पत्र लिखना

यह किसी टूटे हुए लकड़ी के पुल को ठीक करने जैसा है
जिसके नीचे की नदी भी कहीं सूखे पत्तों के नीचे बहती है

और तुम जल्दी ही जान लेते हो
कि इस पुल को ठीक करना उतना आसान नहीं
लकड़ियों, पटियों और रस्सियों की उम्र हो चली है
कीलें अपनी जगहों पर टिक नहीं पा रही हैं
और चार कदम बाद ही चरमराहट की आवाज सुनायी देती है

अब तुम्हारे हाथ में रस्सी का एक सिरा बचा रहेगा
जिस पर तुम कुछ देर तक झूले रह सकते हो
या फिर कुछ संभलते हुए से गिर सकते हो

उस तरफ से कोई आता हुआ भी नहीं दिखता
अपनी कोहनियों और हथेलियों के सहारे तुम उठते हो

और आधी रात में करवट बदलते हुए याद करते हो
कि यह चोट गिरने की नहीं
उस पुल को पार न कर पाने की है।

गिरते उड़ते पत्ते

इसमें अचरज और स्मृतियों का दोहराव है
कि दृश्य में अब सिर्फ पत्ते उड़ रहे हैं:
पीले, भूरे, सूखे, मद्धिम हरे

गिरते हुए पत्ते किसी का इंतजार नहीं करते
हालांकि हमें लगता है वे हमारी ही प्रतीक्षा में थे
और हमें देखते ही उन्होंने गिरना उड़ना शुरू कर दिया है
वे उड़ रहे हैं जैसे बच्चे मैदान में, गलियों में, सड़कों पर दौड़ते भागते हैं
गिरते पड़ते, धकियाते, आगे निकलते, शोर करते, सीटी बजाते

सब तरफ उनके उड़ने का संगीत है
असीम दूरी तक उड़ते चले जाने
और पलट कर देखने की हार्दिकता है
इसमें पुनरावृत्ति है लेकिन सुंदरता और दुख
चरमराहट और उम्मीद है

वे नींद में गिरते हैं
और स्वप्नों को अपनी उड़ान से भरते हैं
उड़ते ही चले जाते हैं डाली से टूटे हुए पत्ते

कहीं अटका हुआ कोई पत्ता खड़खड़ाता है

पानी किनारे के पेड़ों के पत्ते
अपनी छाया के साथ एक सूखते हुए से आईने में गिरते हैं
और कई बार तो सिर्फ किसी गहराई में
अंधों की तरह गिरते हैं सड़क किनारों के पत्ते
घर किनारे के वृक्ष के पत्ते गिरते हैं घर के लोगों की तरह
छतों पर, आंगन में, सीढ़ियों पर, जब हम सो रहे होते हैं

अक्सर वे एकदम सुबह का
या निचाट दुपहरी का वक्त चुनते हैं

जो गिरते उड़ते पत्तों को देख कर विकल नहीं होते
थम नहीं जाते
पत्ते उन्हें भी देख कर कुछ सोचते हुए से ठिठकते हैं
और फिर हवा उन्हें उड़ा ले जाती है।

घास बन कर भी चैन नहीं

आज रात मैं मोल्जार्ट को सुनना चाहता था
और मल्लिकार्जुन मंसूर को
या इस अंधेरी रात को
जिसमें आवाजों का एक विशाल घर है

मनुष्य को बचाती है उसकी आदिम प्रकृति ही
फिर उस पर एक सुबह गिरती है ओस
कुछ उड़ती पत्तियां ठहरती हैं उसके कंधों पर
वह कायांतरति हो जाता है घास में
वहां मिलते हैं उसे कुछ छोटे छोटे फूल, चीटियां और गुबरैले
इस तरह इस जिन्दगी में भी वह अकेला और उदास नहीं रहता

वह घास बन कर भी गुजार सकता था चैन से जीवन
मगर घास पर लगातार टपकता है खून
भगदड़ में दब गये हैं चीटियां और फूल
गुबरैलों का पता नहीं क्या हुआ
और घास बन कर भी चैन नहीं

मैं एक टूटा फूटा मनुष्य
जो अपनी मरम्मत के लिए सुनना चाहता था संगीत
या अंधेरी रात की अनाम आवाजों में कुछ देर रहना चाहता था
अब यहां घास के मैदान में हूं
जिस पर खून के रंग की ओस गिरती है
जो सुबह की रोशनी में कुछ अजीब ढंग से चमकती है।

आदमी जो बनना चाहता था

हर आदमी के भीतर जो वह बनना चाहता था वैसा न बन पाने की
इच्छा या उम्मीद बनी ही रहती है आखिर तक
वह किसी बैक्टीरिया की तरह आंतों में, खून में,
हड्डियों के जोड़ों में भी रह लेती है
और अक्सर पड़ी रहती है इस तरह चुपचाप
मानो उसका बने रहना जरूरी हो शेष जीवन के लिए

जिन्हें हम जानते हैं कलाकारों की तरह
देवताओं की तरह या अपराधियों की तरह
वे बतायेंगे कि वे बनना चाहते थे कुछ और
लेकिन कितनी चीजें रहीं आसपास जो उन्हें
वह सब बनाती रहीं जिसका सपना भी नहीं देखा था कभी
(जाहिर है वे कोंडागांव में, कश्मीर, लाहौर
या ब्राजील में होते तो कुछ और बन गये होते)
और अब कितनी मुश्किलें पेश हैं कि वे बन जायें कुछ और
घर परिवार, कानून, धर्म, न्याय, संयुक्त राष्ट्र संघ
सब कुछ उनके खिलाफ है
वे असहाय देखते हैं चीजें हो चुकी हैं गडमड्ड
पीले में काला, लाल में मिल चुका है नीला
उनके पोखर का पानी सूख गया है और उसमें से
झांकते सितारे कीचड़ में ही धंस गये हैं

जो कुछ वह बनना चाहता था और वाकई बन गया
ऐसे किसी आदमी से बात कीजिये
वह खुश और संतुष्ट आदमी की तरह कह सकता है :
हां, यही मेरे बचपन का सपना था
फिर एक भूला सा स्वाद तैर जायगा उसकी जबान पर
और वह जोड़ेगा— 'जैसा बनना चाहता था
ठीक वैसा तो अभी बन नहीं पाया हूं'

यह जो न बन पाना है
यह जो कुछ और बन जाना है
या यह जो बन कर भी न बन पाना है

जिसे वह कभी दुख से, बेचैनी से, संदेह से
कभी ईर्ष्या से, गर्व से या उम्मीद से देखता है
याद कर सकते हैं कि इस सबमें हमारा भी है कुछ हाथ
इस निर्माण में शामिल है हमारी भी कुछ मिट्टी
हमने भी डाला है कुछ पानी
इस चेहरे के शिल्प में एक सलवट है हमारे चेहरे की भी।